रैगिंग और वर्चस्वी पौरुष



रश्मि गोपी

पिछले कुछ वर्षों के दौरान शिक्षण संस्थानों में रैगिंग एक संगीन समस्या के तौर पर उभरी है। इसकी वजह से कई छात्र-छात्राओं को आत्महत्या तक करनी पड़ी है। रैगिंग की इस समस्या की रोकथाम के लिए मानव संसाधन मंत्रालय, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एवं अन्य संस्थाओं की ओर से समय-समय पर दिशा-निर्देश भी जारी किये जाते रहे हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने भी रैगिंग की परिघटना के ख़िलाफ़ कड़े आदेश जारी किये हैं। सवाल यह है कि आख़िर रैगिंग जैसी घटनाएँ क्यों होती हैं? इसके पीछे किस तरह का मनोविज्ञान काम करता है? क्या पौरुष या मर्दानगी के साथ भी रैगिंग का कोई संबंध है? लेकिन जब हम मर्दानगी के सवाल पर ग़ौर करते हैं तो साथ में यह सवाल उठना भी लाज़िमी है कि फिर स्त्रियाँ और लड़कियाँ रैगिंग में क्यों भाग लेती हैं? क्या स्त्रियों के भीतर भी मर्दानगी का कोई ख़ास स्वरूप पैठा हुआ है? या महिलाओं के अंदर रैगिंग के संदर्भ में मर्दानगी को कैसे देखा जा सकता है? मेरे इस लेख में इन्हीं सवालों का जवाब देने का प्रयास किया गया है।[1]

---

[1] सामान्यत: दक्षिण भारतीय समाज में पितृसत्ता और मर्दानगी से जुड़ी समस्याएँ भाषायी सीमाओं के कारण हिंदी-लेखन में सामने नहीं आ पाती हैं. मेरा यह लेख इसी शून्य को भरने का एक छोटा सा प्रयास है इसमें दक्षिण भारतीय राज्य केरल के शैक्षणिक संस्थानों में रैंगिंग की घटनाओं पर प्रकाश डाला गया है तथा इसे 'मर्दानगी' की अवधारणा के साथ जोड़ कर देखने की कोशिश की गयी है. इस लेख की हिंदी-प्रस्तुति में सहयोग के लिए मैं इंद्रजीत कुमार झा की विशेष रूप से आभारी हूँ.

यह लेख पाँच भागों में विभाजित है। पहले भाग के अंतर्गत 'मर्दानगी' की संकल्पना एवं इसके स्वरूप को समझने की कोशिश है। दूसरे भाग में आर.डब्ल्यू. कोनेल द्वारा प्रस्तुत मर्दानगी के एक अहम रूप वर्चस्वी पौरुष की व्याख्या की गयी है। तीसरे में दक्षिण एशियाई संदर्भ में मर्दानगी को ले कर किये गये विभिन्न अनुसंधानों एवं अध्ययनों पर प्रकाश डाला गया है। चौथे भाग के अंतर्गत मर्दानगी के प्रकटीकरण के तौर पर रैगिंग की घटना को समझने की कोशिश की गयी है। इसके अंतर्गत विशेष रूप से केरल राज्य की शैक्षणिक संस्थाओं में किये गये फ़ील्ड वर्क के आधार पर एक विश्लेषण पेश किया गया है। अंत में पाँचवें भाग में समाज में रैगिंग की जड़ें तलाशने की कोशिश है।

I

मर्दानगी क्या है?

मर्दानगी या मैस्कुलनिटी शब्द का प्रचलन सर्वप्रथम अट्ठारहवीं सदी के मध्य में अमेरिका, युरोप और ऑस्ट्रेलिया के शिक्षण केंद्रों में दिखाई देता है। यह शब्द मूल रूप से लातीनी भाषा के 'मैस्कुलिनस' से बना है। इसके अंतर्गत मर्द होने का अर्थ यानी मर्द क्या करता है, क्या सोचता है, क्या अनुभव करता है आदि बातें सम्मिलित हैं। डेविड मोर्गन के अनुसार मर्दानगी के विचार के तहत विश्व-निर्माण की प्रक्रिया में मर्द ख़ुद को ही केंद्र में रखता है और इसीलिए मर्द ही मानव जाति का प्रतीक बन जाता है। सारी समझ इसी बात पर केंद्रित हो जाती है कि मर्द क्या सोचता है, क्या करता है और क्या अनुभव करता है। इस समझ में नारी के अनुभव, सोच और क्रियाओं (एक्शन) का कोई स्थान नहीं रहता।[2] उस सदी में मर्दानगी को एक प्राकृतिक, एकरूपी और स्थायी माना जाता था। लेकिन इक्कीसवीं सदी में यह धारणा सामने आयी कि मर्दानगी एक निर्मिति है और उसके विभिन्न रूप होते हैं। उसके ये रूप किसी ख़ास समय में उपलब्ध अधिकार, ओहदे, अवसर, विकल्पों और संसाधनों पर निर्भर होते हैं। इतना ही नहीं, एक ही व्यक्ति के भीतर भी मर्दानगी का रूप-रंग संदर्भ के अनुसार बदलता रहता है।

मर्दानगी को एक अध्ययन-योग्य विषय बनाने में तीन परिघटनाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।[3] पहली भूमिका अकादमिक और एक्टिविस्ट नारीवादियों की है जिन्हें लगा कि नारी-सशक्तीकरण की प्रक्रिया से मर्द को बाहर करके वे अपना मक़सद हासिल नहीं कर सकते, बल्कि इसके लिए मर्द को भी समझने, बदलने और उसका सहयोग लेने की आवश्यकता पड़ेगी। अध्ययन करने पर यह बात भी उभर कर सामने आयी कि सभी मर्द प्रभुत्वशाली नहीं होते। उनके बीच भी दुर्बलों और असमर्थों की मौजूदगी रहती है। दूसरी भूमिका पुरुषों के बीच एचआईवी या एड्स के फैलने से इतरलैंगिक यौन संबंधों की नैसर्गिकता पर सवालिया निशान लगने की है, क्योंकि इसके कारण बड़े पैमाने पर समलैंगिक यौन संबंधों की हक़ीक़त सामने आयी। तीसरी भूमिका कालांतर में समलैंगिक स्त्रियों और पुरुषों में भी अपने अधिकारों को लेकर सजगता आने और उनके द्वारा इसके लिए खुल कर आवाज़ उठाने से जुड़ी है।

मर्दानगी की समझ के विकास के तीन चरण हैं। प्रथम चरण पचास के दशक का है जब मर्दानगी के प्राकृतिक और स्थायी रूप को चुनौती दी गयी। दूसरा चरण 1970-80 के दशक में यह दर्शाने का था कि पुरुष और औरत के विभेद में एक शक्ति-संरचना की भूमिका है जिसके अंतर्गत इनके बीच शक्ति-विभाजन किया गया है। इसी प्रकार का शक्ति-विभाजन पुरुष और पुरुष के बीच में भी है। तीसरा चरण नब्बे के दशक में विज्ञान और तकनीक को भी स्थापित सामाजिक और सांस्कृतिक विमर्श

---

[2] देखें, डेविड मोर्गन (1992).

[3] देखें, राधिका चोपड़ा, सी. ओसेला और एफ़. ओसेला (2004).

से प्रभावित और उसका उत्पाद मानने से जुड़ा है। यह विमर्श भी पुरुष–स्त्री पहचान के निर्माण का सामान्यीकरण करने का कार्य करता है।[4]

इस विवरण से तीन बातें स्पष्ट होती हैं : पहला, मर्दानगी स्थायी एवं एकरूपी नहीं है; दूसरा, मर्दानगी सम्पूर्ण मानवता का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती; और तीसरा, शक्ति–असंतुलन और शक्ति की पदसोपानीयता केवल पुरुष एवं नारी के बीच ही नहीं है, बल्कि पुरुषों एवं पुरुषों के बीच तथा स्त्रियों एवं स्त्रियों के बीच भी है। इस बारे में आर.डब्ल्यू. कोनेल ने सबसे पहले वर्चस्वी एवं अधीनस्थ मर्दानगी में अंतर पर प्रकाश डाला।

II

वर्चस्वी पौरुष

1983 में ऑस्ट्रेलियायी समाजशास्त्री रॉबर्ट विलियम 'बॉब' कोनेल द्वारा वर्चस्वी पौरुष की अवधारणा प्रस्तुत की गयी। कोनेल ने ग्राम्शी द्वारा प्रवर्तित वर्चस्व की अवधारणा से प्रभावित होकर मर्दानगी की इस क़िस्म की व्याख्या की। वर्चस्व का तात्पर्य शक्ति–संरचना के प्रति स्व–सहमति से है। अर्थात् शक्ति–संरचना लोगों से अपनी बात मनवाने के लिए बल–प्रयोग न करके अपने प्रति सहमति उत्पन्न करती है। कोनेल का भी कहना है कि वर्चस्वी पौरुष वह श्रेणी है जो अपने वर्चस्व को सहमति और अप्रकट बलप्रयोग से स्थापित करती है। वह पूरे समाज को समझने की प्रक्रिया पर हावी हो जाती है। इसलिए जो इसका हिस्सा नहीं बन पाता यानी अधीनस्थ मर्दानगी और स्त्री ख़ुद को सदैव शक्ति के दायरे के बाहर पाते हैं। किसी भी तरह के वर्चस्व को स्थापित करने में चूँकि संचार–माध्यमों और शैक्षणिक संस्थाओं के योगदान को नहीं नकारा जा सकता, इसलिए वर्चस्वी पौरुष की स्थापना में भी इन पहलुओं का योगदान है।

कोनेल के चिंतन का सबसे बड़ा योगदान यह है कि वे मर्दानगी की विभिन्नता जानने को ही काफ़ी मान कर नहीं रुक जातीं। वे विभिन्न मर्दानगियों के बीच के रिश्तों को भी समझना ज़रूरी मानती हैं। उनके बीच के जुड़ाव, टकराव, प्रभुत्व और अधीनता के अंदर समावेशन और बहिर्वेशन की प्रक्रिया चलती है। इस प्रक्रिया से कुछ लोगों को डराया एवं शोषित किया जाता है। कोनेल का ध्यान मर्दानगी के भीतर होने वाली शक्ति–राजनीति पर भी है। कोनेल के अनुसार मर्दानगी एक गढ़ी गयी पहचान है इसलिए इसे बदला भी जा सकता है। उनके लिए मर्दानगी की निर्मिति संदर्भ–निर्भर है। उन्होंने अपने विमर्श में चार प्रकार की मर्दानगियों पर ध्यान दिया है।[5]

पहले क़िस्म की मर्दानगी ऑस्ट्रेलिया के युवा शहरी मज़दूर वर्ग पर केंद्रित है। इसमें प्रतिरोध की क्षमता की शिनाख़्त की गयी है। कोनेल का विचार है कि इस मर्दानगी के आयाम में विश्व के किसी भी शहरी मज़दूर वर्ग की झलक हो सकती है। इस मर्दानगी की सार्वभौम विशेषताओं के साथ ही किसी प्रदेश–विशेष में मौजूद मर्दानगी की कुछ विशेषताएँ भी जुड़ी हो सकती हैं। कोनेल ने ऑस्ट्रेलिया के मज़दूर वर्ग की मर्दानगी के समान आयामों को अमेरिका के अश्वेत और लातीनी अमेरिका के मज़दूर वर्ग के साथ भी जोड़ा है।

दूसरे तरह की मर्दानगी उन मर्दों पर केंद्रित है जो पर्यावरणीय नारीवादी आंदोलन के अंग हैं। यह मर्दानगी संकटग्रस्त है। चूँकि यह जीवन–शैली को बदलने की बात करती है और इसी कारण से उन्हें किसी भी मुख्यधारा की राजनीतिक–आर्थिक प्रणाली से समर्थन नहीं मिलता है। किसी भी तरह की संरचना–प्रणाली ने इन मर्दों और उनकी मर्दानगी को प्रमुखता नहीं दी है। इसलिए इन्हें भावात्मक

---

[4] देखें, एस. व्हाइटहेड और एफ़. बैरेट (2001) (सं.).
[5] आर.डब्ल्यू. कोनेल (1995); आर.डब्ल्यू. कोनेल और जे.डब्ल्यू. मेर्सश्मिड्ट (2005) : 829–859.



मर्दानगियों के बीच जुड़ाव, टकराव, प्रभुत्व और अधीनता के अंदर समावेशन और बहिर्वेशन की प्रक्रिया चलती है। इस प्रक्रिया से कुछ लोगों को डराया एवं शोषित किया जाता है। कोनेल का ध्यान मर्दानगी के भीतर होने वाली शक्ति-राजनीति पर भी है। कोनेल के अनुसार मर्दानगी एक गढ़ी गयी पहचान है इसलिए इसे बदला भी जा सकता है। उनके लिए मर्दानगी की निर्मिति संदर्भ-निर्भर है।

और संबंधपरक द्वंद्वों से गुज़रना पड़ता है।

तीसरी मर्दानकी समलैंगिकों की है। कोनेल के अनुसार समलैंगिक पुरुष भी अपने राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक जीवन में मर्द होने की सभी सुविधाओं और वंचनाओं को भोगते हैं। वे केवल यौन-संबंधों के मामले में इतरलैंगिक मर्द से अलग होते हैं। इस कारण समलैंगिक मर्दों को समाज में नीचा दर्जा मिलता है। लेकिन इस तरह के मर्द नारीवाद के साथ नहीं खड़े होना चाहते। दरअसल, वे जेंडर-व्यवस्था को पूर्ण रूप से चुनौती नहीं देना चाहते। ये मर्द पितृसत्ता से मिलने वाले सामाजिक लाभों को भी खुल कर चुनौती नहीं देना चाहते।

चौथी मर्दानगी वर्चस्वी मर्दों की है। उन्हें अपना वर्चस्व सोचने की क्षमता तर्क-शक्ति के आधार पर मिलती है। इस तर्क-शक्ति का निर्माण लड़कों और मर्दों में शुरुआत से ही घर, स्कूल, व्यवसाय-केंद्रों में होता है। यह श्रेणी ख़ुद को अधिकार वाले मुक़ाम पर स्थित करते हुए मानती है कि दूसरे सारे गुटों के मर्दों को इनके क़ाबू और डर में रहना चाहिए। वर्चस्वी पौरुष के सर्वश्रेष्ठ गुण तर्क-शक्ति के साथ बाक़ी सभी गुण संदर्भ के अनुसार जुड़ जाते हैं। हालाँकि आधुनिक समाज में तर्क-शक्ति और प्रौद्योगिकी आयामों को प्रमुखता मिलती है, लेकिन इस मर्दानगी को बदलने का मूल भी इसी अवस्था को बदलने में निहित है। इस तर्क-शक्ति केंद्रित मर्दानगी को लगातार चुनौती मिलती रहती है। इसी कारण संदर्भ के आधार पर वर्चस्वी पौरुष बदलती भी रहती है।

III

दक्षिण एशियायी संदर्भ में मर्दानगी

यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि कोनेल की वर्चस्वी पौरुष की अवधारणा भी आलोचनाओं से परे नहीं है। इसकी भी कुछ कमियाँ हैं जिसे आगे चल कर ख़ुद कोनेल भी स्वीकार करती हैं। जैसे, कोनेल ने वर्चस्वी पौरुष को स्थिर माना था, जबकि आलोचकों के अनुसार यह संदर्भ पर आधारित होती है और इसलिए इसको बदला भी जा सकता है। दूसरा, कोनेल ने वर्चस्वी पौरुष को केवल नकारात्मक रूप में ही दिखाया था, जबकि इसमें सकारात्मक और नकारात्मक दोनों आयाम जुड़े होते हैं। तीसरा, वर्चस्वी पौरुष को हमेशा अधीनस्थ मर्दानगी से भी चुनौती मिलती रहती है जिसे कोनेल ने नज़रअंदाज़ कर दिया था। अधीनस्थ मर्दानगी सम्पूर्ण रूप से वर्चस्व का शिकार कभी नहीं होती।[6] इन आलोचनाओं के

[6] आर.डब्ल्यू. कोनेल और जे.डब्ल्यू. मेर्सश्मिड्ट (2005) : 829-859.

बावजूद कोनेल प्रदत्त वर्चस्वी पौरुष की संकल्पना का अपना एक महत्त्व है। इससे मर्दानगी को समझने का एक नया आयाम मिला है। इस लेख में इसी संकल्पना के आधार पर रैगिंग की प्रक्रिया से शैक्षणिक संस्थाओं में एक प्रकार की वर्चस्वी पौरुष के निर्माण को समझने की कोशिश की गयी है। लेकिन इससे पहले कि हम शैक्षणिक संस्थाओं में वर्चस्वी पौरुष के निर्माण पर ग़ौर करें, हमें दक्षिण एशिया में मर्दानगी की समझ पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए। दक्षिण एशिया में मर्दानगी को पाँच क्षेत्रों में वर्गीकृत कर समझा जा सकता है[7] : औपनिवेशिक काल का प्रभाव, ऊँची जाति और अन्य के बीच का द्वंद्व,गृहस्थ और संन्यासी की मर्दानगी, स्त्री लैंगिकता के प्रति पुरुष दृष्टिकोण और मर्दानगी और नर का जुड़ाव।

इस क्षेत्र में मृणालिनी सिन्हा और आशिस नंदी का काम उल्लेखनीय है। सिन्हा के अनुसार स्त्री-प्रश्न में ब्रिटिश सरकार को कोई दिलचस्पी नहीं थी। स्त्री-प्रश्न केवल एक ज़रिया था जिसके द्वारा वे भारत पर अपने शासन को न्यायसंगत दिखाना चाहते थे। वे स्थापित करना चाहते थे कि जो भारतीय पुरुष अपने स्त्री-प्रश्न को नहीं हल कर सकते, वे भारत को स्वराज देने की क्षमता से भी सम्पन्न नहीं हो सकते। अंग्रेज़ों का दावा था कि भारतीय पुरुष मुख्य तौर पर स्त्रैण होता है इसलिए उसे ब्रिटिश शासन की ज़रूरत है।[8] आशिस नंदी भी इस बात पर ज़ोर देते हैं कि औपनिवेशिक काल ने भारत में लोगों की लैंगिक समझ को ढाला है। इसके प्रभाव में भारतीय मानने लगे थे कि ब्रिटिश मर्दानगी ही सर्वश्रेष्ठ मर्दानगी है। अंग्रेज़ों की ही भाँति वे मर्दानगी को आक्रामकता, वैज्ञानिकता और प्रगतिशीलता से जोड़ते थे। भारतीयों की निगाह में यही गुण सर्वश्रेष्ठ थे। अंग्रेज़ों से प्रभावित यह विचार भारतीय मर्दानगी को स्त्रैण, बालकोचित और असभ्य मानता था। इस विचार के मुताबिक़ असभ्य भारतीय मर्दानगी का मार्गदर्शन करने की ज़िम्मेदारी सभ्य पश्चिमी मर्दानगी की थी।[9]

IV

औपनिवेशिक काल का प्रभाव : नंदी का विमर्श

अपनी विख्यात रचना *द इंटीमेट एनिमी* में आशिस नंदी ने उत्तर-औपनिवेशिक चेतना की चर्चा की है।[10] उन्होंने इस बात पर प्रकाश डाला है कि औपनिवेशिक काल में अंग्रेज़ों ने भारत में संस्थानिक शोषण के दो प्रारूप स्थापित करने की कोशिश की थी। ये सेक्स और उम्र पर आधारित थे। इस प्रक्रिया में आधुनिक अंग्रेज़ी मूल्यों और पारम्परिक भारतीय मूल्यों के बीच टकराव एवं सम्मिलन हुआ। इस चरण में भारतीय मूल्यों को ज़्यादातर भारतीयों द्वारा ही उपेक्षित कर दिया गया। गाँधी इस भेड़-चाल से भिन्न थे। उन्होंने अंग्रेज़ों द्वारा आरोपित मानसिक-आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक शोषण को चुनौती दी। अंग्रेज़ों ने पश्चिमी और पूर्वी सभ्यता को एक एक-दूसरे के ख़िलाफ़ खड़े आयामों की तरह देखा। पश्चिम को परिभाषित करने के लिए अंग्रेज़ी सभ्यता के 'मर्दानगी' एवं 'वयस्कता' वाले आयामों पर ज़ोर दिया गया। भारतीय सभ्यता को 'स्त्रीत्व' और 'बालकोचित' के तौर पर प्रस्तुत किया गया। नंदी के अनुसार औपनिवेशिकता का सबसे महत्त्वपूर्ण आयाम यह था कि वह पूर्वी प्रांतों / देशों को अपने क़ाबू में रखने के लिए सिर्फ़ राजनीतिक-आर्थिक स्तर के उपायों तक ही सीमित नहीं थी,

---

[7] यद्यपि यहाँ दक्षिण एशिया में 'मर्दानगी' के विभिन्न स्वरूपों का विश्लेषण किया गया है तथा ऊँची एवं कमज़ोर जातियों की मर्दानगियों के द्वंद्व पर भी प्रकाश डाला गया है, लेकिन इस वर्गीकरण की कुछ सीमाएँ भी हैं. उदाहरण के लिए कमज़ोर जातियाँ मर्दानगी की जिस धारणा से ग्रस्त हैं, उन पर चर्चा नहीं की गयी है. समुदाय के रूप में देखें तो अल्पसंख्यक समुदायों, जैसे मुसलमान समुदाय, में व्याप्त मर्दानगी पर भी चर्चा नहीं है. इसके लिए एक अलग शोध और विमर्श की आवश्यकता है.

[8] मृणालिनी सिन्हा (1995).

[9] आशिस नंदी (1983).

[10] आशिस नंदी (1983), वही.



अंग्रेज़ों का दावा था कि भारतीय पुरुष मुख्य तौर पर स्त्रैण होता है इसलिए उसे ब्रिटिश शासन की ज़रूरत है। आशिस नंदी भी इस बात पर ज़ोर देते हैं कि औपनिवेशिक काल ने भारत में लोगों की लैंगिक समझ को ढाला है। इसके प्रभाव में भारतीय मानने लगे थे कि ब्रिटिश मर्दानगी ही सर्वश्रेष्ठ मर्दानगी है। अंग्रेज़ों की ही भाँति वे मर्दानगी को आक्रामकता, वैज्ञानिकता और प्रगतिशीलता से जोड़ते थे। भारतीयों की निगाह में यही गुण सर्वश्रेष्ठ थे। अंग्रेज़ों से प्रभावित यह विचार भारतीय मर्दानगी को स्त्रैण, बालकोचित और असभ्य मानता था। इस विचार के मुताबिक़ असभ्य भारतीय मर्दानगी का मार्गदर्शन करने की ज़िम्मेदारी सभ्य पश्चिमी मर्दानगी की थी।

बल्कि वह प्रभुत्व मानसिक–सामाजिक स्तर पर भी था। यह प्रभुत्व इतना शक्तिशाली था कि उपनिवेशवाद को समझने और उसके प्रतिरोध के उपादान और मानदण्ड भी अंगज़ों से ही उधार लिए हुए थे।

नंदी का मानना है कि अंग्रेज़ी और भारतीय सभ्यताओं को एकाश्म समझना अनुचित है। अंग्रेज़ी सभ्यता में भी मर्दानगी और स्त्रीत्व के विभिन्न स्वरूप विद्यमान हैं। ज़रूरी नहीं है कि वे हमेशा सक्षम ही रहे हों। अंग्रेज़ी और भारतीय सभ्यताओं के मेल–मिलाप में ऐसा कभी नहीं था कि भारतीयों ने कठपुतलियों की तरह अंग्रेज़ी मूल्यों और समझ को ही आँख बंद करके अपनाया हो। भारतीयों में ऐसे लोग भी शामिल थे जिन्होंने जागरूकता के साथ अपनी 'पसंद' तय की। नंदी ने इस बात को भी प्रमुखता दी कि शोषण की प्रक्रिया में सिर्फ़ शोषित नहीं बल्कि शोषक भी अपना दर्जा गिराता है। नंदी के लिए 'मस्तिष्क का उपनिवेशीकरण' ही सबसे बड़ा ख़तरा है। अंग्रेज़ों की सबसे बड़ी सफलता इसी क्षेत्र में थी। उन्होंने अंग्रेज़ी मर्दानगी को सिपाहीकरण के साथ जोड़ा। उन्होंने भारतीयों को यह समझने के लिए विवश कर दिया कि भारतीय–स्त्रीत्व अंग्रेज़ी–मर्दानगी के सामने कभी जीत नहीं सकता। मन से हारे भारतीयों ने हर स्तर पर हार मान ली भी थी। गाँधी ने इसी 'हार की स्वीकृति' को चुनौती दी। गाँधी ने भी 'मस्तिष्क को जीतने' की कोशिश की। हर भारतीय के मन में उसकी विजय का विश्वास स्थापित किया।

गाँधी ने सेक्शुअलिटी के स्त्री–पुरुष बिम्बों को तोड़ कर भारतीय अर्धनारीश्वर रूप को अपनाया

जिसमें स्त्री–पुरुष के सकारात्मक आयामों के लिए पूरी गुंजाइश थी। गाँधी की अर्धनारीश्वर संबंधी संकल्पना को लेकर किये गये नंदी के विश्लेषण में फ्रॉयड के प्रभाव को भी नकारा नहीं जा सकता। नंदी ने फ्रॉयड की बौद्धिक सत्ता को पूरी तरह से तो स्वीकार नहीं किया, पर उनके साथ संवाद ज़रूर किया। उन्होंने गाँधी की अर्धनारीश्वर मर्दानगी को मनोविश्लेषिक ढंग से पढ़ने की कोशिश की, और इसी माध्यम से भारतवासियों के दबे हुए 'अचेतन मन' को 'चेतन' करने की कोशिश की।

नंदी का मानना है कि गाँधी के दो योगदान उत्तर–औपनिवेशिक भारत के लिए प्रमुख हैं। पहला 'बचपन' की अवधारणा पर पुनर्विचार करने के नाते और दूसरा तर्क–विचार पर आधारित इतिहास पर सवाल उठाने के रूप में। नंदी ने फ्रॉयड की मनोविश्लेषिक विमर्श को भारतीय संदर्भ में समझने की कोशिश की है। उनके मुताबिक़ गाँधी ने भारत की उस छवि को तोड़ा जिसके अनुसार एक बच्चा (भारत) एक वयस्क (अंग्रेज़) पर निर्भर समझा जाता था। नंदी स्पष्ट करते हैं कि गाँधी को समझना आवश्यक है क्योंकि वे शिश्न–केंद्रित मानसिकता से निर्लिप्त हैं, और इसी कारण वे अन्य भारतीय नेताओं, अंग्रेज़ीपरस्त नेताओं और सामाजिक मानसिकता से अलग भी हैं। औपनिवेशिक सिद्धांत ने 'देह' पर केंद्रित भाषा को अपना कर 'मर्दानगीकरण' की प्रक्रिया चलाई। गाँधी का महत्त्व इस बात को लेकर है कि उन्होंने इस 'मर्दानगी' भरी भाषा को अर्धनारीश्वर भाषा में बदलने की कोशिश की। गाँधी ने अर्धनारीश्वर सोच को भारत की परम्परा से ढूँढ़ निकाला था। गाँधी के विचार में आध्यात्मिकता और नैतिकता को जीवन के किसी भी आयाम से निकाल कर बाहर नहीं किया जा सकता। व्यक्ति पुरुष हो या स्त्री, अपने जीवन में इन दो आयामों से दूर नहीं रह सकता। ये दोनों मूल्य जाति, धर्म, प्रांत से परे हैं। गाँधी ने कट्टर राष्ट्रीयता के स्थान पर सार्वदेशिकता पर ज़ोर दिया था जिसमें विभिन्नता और अ–स्पष्टीकरण की स्वीकृति थी। गाँधी ने हमेशा इतिहास के समरूपीकरण और रैखिक प्रस्तुतीकरण को चुनौती दी। इसी कारण उन्होंने सार्वजनिक जीवन में 'राज्य' की प्रमुखता पर भी सवाल उठाया।

फ्रॉयड और गाँधी में सबसे बड़ा सादृश्य यह था कि दोनों मर्दानगी और स्त्रीत्व को निरंतरता में देखते थे। गाँधी ने उन आधुनिक अंग्रेज़ी लेखकों पर सवाल उठाया जिसमें सार्वजनिक एवं राजनीतिक जीवन में मर्दानगी को ऊँची श्रेणी में रखा जाता था। गाँधी ने इस प्रकार के मर्दानगी को अपूर्ण बताया और अर्धनारीश्वर रूप को सर्वश्रेष्ठ माना। गाँधी के अर्धनारीश्वर में स्त्रीत्व के कुछ भागों को सम्मिलित किया गया था। यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि गाँधी के लिए स्त्रीत्व मातृत्व से जुड़ा था। उनके यहाँ स्त्री–यौनिकता ऐंद्रिकता से वंचित थी। फ्रॉयड ने मातृमनोग्रंथि का सूत्रीकरण करके पुत्र के माँ के प्रति यौनाकर्षण को स्वाभाविक बताया, और यही पहलू गाँधी में भी दिखता है। गाँधी अपनी मर्दानगी की प्रेरणा भी अपनी माँ से ही लेते हैं। उनके लिए मर्दानगी मातृत्व से जुड़ने में है, अलग होने में नहीं।

गाँधी ने अंग्रेज़ों के इस तर्क को ठुकराया कि गोरी सभ्यता की ज़िम्मेदारी 'नामर्द' भारतीय सभ्यता को सभ्य बनाना है। गाँधी का कहना था कि अर्धनारीश्वरता से जुड़ी भारतीय मर्दानगी अंग्रेज़ी मर्दानगी से भी श्रेष्ठ है, और अंग्रेज़ों को यह भारतीयों से सीखना चाहिए। अंग्रेज़ों के शासन को वे किसी भी तरह से स्वीकृति नहीं दे सकते क्योंकि भारतीय समाज और सभ्यता अंग्रेज़ों से श्रेष्ठ है। गाँधी के लिए भारतीय प्रजा न तो 'अपूर्ण आदमी' थी और न ही 'व्यतीत वयस्क'। प्रश्न यह है कि गाँधी प्रदत्त अर्धनारीश्वर विकल्प से पूरी तरह से सहमत हो पाना सम्भव है? क्या गाँधी की अर्धनारीश्वर की संकल्पना भी पितृसत्तात्मकता से प्रभावित नहीं दिखती? इसीलिए बाद में कई लोगों ने गाँधी द्वारा की गयी अर्धनारीश्वरता की दावेदारी की आलोचना भी की।यह अलग बात है कि तत्कालीन परिस्थितियों में इस तरह की विमर्शात्मक समझ की बहुत ज़रूरत थी। गाँधी ने अपने शब्द और कर्म से स्त्री–पुरुष द्विभाजन से परे जाने वाला विकल्प की पेशकश की। उत्तर–औपनिवेशिक काल में भी भारत को ऐसी समझ की ही आवश्यकता है जहाँ स्त्री–पुरुष वाली इतरलैंगिकता के दायरे के बाहर भी यौनिकता

प्रकट हो सके। मर्दानगी के एक ही रूप-रंग को नहीं, बल्कि उसके दूसरे रूप-रंगों को भी समान स्वीकृति मिलनी चाहिए। विभिन्नता की तरतमता में नहीं, बल्कि विभिन्नता के सम्मान में ही सभी का सशक्तीकरण हो सकता है।

ऊँची जाति और अन्य के बीच का द्वंद्व : राष्ट्रीय आंदोलन में 'भारतीय' की संकल्पना को ऊँची जाति-ऊँचे वर्ग के मर्द और उसकी मर्दानगी के साथ जोड़ दिया गया था। राष्ट्र निर्माण का दायित्व भी इसी श्रेणी के हाथों में सौंप दिया था। क्रिस्टॉफ़ जेफ्रलो का मानना है कि 'भारत माँ' की स्वतंत्रता ऊँची जाति और ऊँचे वर्ग के हिंदू की ज़िम्मेदारी थी। यहाँ युरोपीय आधुनिकता दो तरह से प्रभावित होते हुए दिखती है : कलंकित रूप और अनुकरण रूप में। एक तरफ़ तो भारतीय मर्दानगी को युरोपीय मर्दानगी (ख़ास कर ब्रिटिश मर्दानगी) से अलग बताने की कोशिश थी, तो दूसरी तरफ़ ब्रिटिश मर्दानगी की नक़ल उतारने की प्रवृत्ति थी। सांस्कृतिक रूप से भारतीय मर्दानगी को ब्रिटिश मर्दानगी से अच्छा बताया जाता था। इसके तहत भारत को 'सोने की चिड़ियाँ' और 'भारत माता' का विशेषण दिया गया। समझ यह बनी कि भारतीय मर्दानगी (हिंदू मर्दानगी : ऊँची जाति, ऊँचा वर्ग) ने 'भारत माता' की सुरक्षा और सम्मान को बनाए रखा था। यह तो 'बाहरी' शासन था जिसने 'अ-लैंगिक' भारत माता को 'लैंगिक' बना दिया। दूसरी ओर ब्रिटिश मर्दानगी के सैन्यीकृत पहलुओं को भारतीय मर्दानगी के साथ जोड़ने की कोशिशें भी थीं। इससे स्पष्ट होता है कि भारत में लोग भारतीय मर्दानगी को ब्रिटिश मर्दानगी से जोड़ना भी चाहते थे और अलग भी करना चाहते थे।[11]

तनिका सरकार का विचार है कि राष्ट्रीय आंदोलन में न केवल 'जीवन के हिंदू तौर-तरीक़ों' को अनुलंघनीय और स्वायत्त माना जाता था, बल्कि 'हिंदू परम्परा और संस्कृति' को बाहरी प्रभाव से मुक्त रखने की कोशिश भी थी। हिंदू मर्दानगी की सफलता निजी जीवन में वैवाहिक अवस्था को राजनीतिक अवस्था में पुन: स्थापित करने पर निर्भर थी। यहाँ 'वैवाहिक अवस्था' का अर्थ यह है कि नर स्वामी और नारी उसकी दासी है। वैवाहिक अवस्था की श्रेणी ही मर्द/नर को, अंदर (निजी) और बाहरी (सार्वजनिक) जीवन में मर्दानगी दिला सकती है। सरकार का मानना है कि भारतीय जेंडर में रिश्तों और उनकी समझ ने ही राष्ट्र-निर्माण और 'भारत माता को ढाला' है। राष्ट्रीयता और मर्दानगी का अर्थ है निजी स्तर के 'नारी-सम्मान' को सार्वजनिक स्तर पर 'नारी-सम्मान' के रूप में स्थापित करना, तभी भारत एक स्वतंत्र राष्ट्र का रूप ले सकता है। दोनों ही स्तरों पर (निजी और सार्वजनिक) यहाँ स्त्री की भूमिका केंद्र में है। इस भूमिका को रूप और रंग पुरुषों द्वारा दिया गया था।[12]

ज्ञानेंद्र पांडे ने अपनी रचना 'हममें से हिंदू कौन है ?' में हिंदू पहचान और हिंदू राष्ट्र की निर्माण-प्रक्रिया का उद्घाटन किया। उनका कहना है कि जेंडर, लैंगिकता, कुल, वंश और जाति की पहचान ने 'हिंदू' का निर्माण किया है। यहाँ पुरुष, इतरलैंगिक ऐंद्रिकता, आर्य वंश, ऊँची जाति और ऊँचे वर्ग ही 'हिंदू' में गिने जाते हैं। इसलिए हिंदू पहचान में ही श्रेणी निहित है। परिणामस्वरूप हर 'हिंदू' का राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में एक समान स्थान नहीं है।[13]

गृहस्थ और संन्यासी मर्दानगी : संन्यासी को भारतीय समाज में प्रधानता दी जाती है क्योंकि वह भौतिक मोह-माया ऊपर होते हैं। संन्यासी मर्दानगी का सर्वोत्तम रूप तो है, परंतु वह भी शक्ति-संरचना में स्थित है। सब कुछ छोड़ कर भी वह सब पर हावी है। यहाँ मर्दानगी भौतिक मोह-माया से वियोग में है। यहाँ अलगाव में ही लगाव है। संन्यासी मर्दानगी के एकदम विपरीत है गृहस्थ मर्दानगी। गृहस्थ का सम्मान, उसकी मर्दानगी इसी बात पर निर्भर है कि वह कितना महत्त्व अपनी पत्नी और

[11] क्रिस्टॉफ़ जेफ्रेलो (1996).
[12] तनिका सरकार (2001).
[13] ज्ञानेंद्र पाण्डेय (1993).

बच्चों को दे सकते हैं। गृहस्थ की मर्दानगी को परिवार के रक्षक के रूप में देखा जाता है। यहाँ हम देख सकते हैं कि 'मर्दानगी' का अटूट संबंध है 'स्त्री' की पहचान से। दोनों ही संन्यासी और गृहस्थ अपनी शक्ति या मर्दानगी को या तो स्त्री के साथ संबंध तोड़ कर या जोड़ कर दिखाते हैं।[14]

स्त्री लैंगिकता के प्रति पुरुष दृष्टिकोण : फ्रॉयड का मानना था कि पुत्र हमेशा पिता के प्रति ईर्ष्या का भाव रखता है, क्योंकि उसका पहला काम–आकर्षण उसकी माँ ही होती है। पिता को वह माँ से जुड़ते देख खुश नहीं होता। यहाँ पुत्र और पिता दोनों ही 'माँ' की लैंगिकता से आकर्षित होते हैं। परंतु भारतीय संदर्भ में पुत्र को पिता की छवि और पिता से डर की भावना ज़्यादा दिखाई देती है। माँ के ऊपर पिता के अधिकार को चुनौती दिये बिना ही पुत्र स्वीकार कर लेता है। इस कारण पुत्र पिता की छाया में रहता है। उसकी अपनी लैंगिकता और पहचान प्रौढ़ता तक अस्पष्ट रहती है। संजय श्रीवास्तव भी अपने शोध से इसी बात पर ज़ोर देते हैं कि पुत्र अपने बचपन में माँ से जुड़ा होता है, माँ के शारीरिक अंगों से उत्तेजित होता है, परंतु पिता के डर और समाज के भय से उस आकर्षण को न तो प्रकट करता है ना ही समझ पाता है।[15]

मर्दानगी और नर का जुड़ाव : भारतीय समझ में मर्दानगी को नैसर्गिकता और पुरुष लिंग से जोड़ा गया है। यह बात स्वीकारी नहीं जाती कि स्त्रीत्व पुरुष में भी हो सकता है और मर्दानगी स्त्री में भी हो सकती है। अगर कोई व्यक्ति इस 'मर्दानगी–स्त्रीत्व' द्वंद्व से बाहर या उसके बीच में होते हैं तो उन्हें समाज में कई प्रकार की निंदा और शोषण (शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, लैंगिक) का सामना करना पड़ता है। राधिका चोपड़ा इस बात पर रोशनी डालती हैं कि स्त्री–जीवन में सुधार और सशक्तीकरण तभी सम्भव है जब पुरुष अपनी मर्दानगी की समझ को बदले। पुरुष जिस तरह का पुत्र और पति बनता है उसी से स्त्री का जीवन स्पष्ट होता है। जो मर्दानगी अहिंसा और सहिष्णुता से सम्पन्न है, वही जेंडर समानता और 'घरेलू लोकतंत्र' को स्थापित कर सकती है। चोपड़ा के मुताबिक समकालीन मर्दानगी के विकल्प से ही सामाजिक परिवर्तन आ सकता है।[16] चोपड़ा इस बात पर भी ज़ोर देती हैं कि सार्वजनिक स्थानों पर मर्दानगी की शक्ति का प्रकटीकरण होता है, एक श्रेणी स्थापित होती है, उम्र, जाति, धर्म, क्षेत्र के आधार पर मर्दानगी को स्वीकृति और शक्ति मिलती है।

राधिका चोपड़ा, फ़िल्लिपो ओसेल्ला और कारोलिन ओसेल्ला द्वारा सम्पादित पुस्तक में कई विद्वानों ने मर्दानगी पर विमर्श किया है। इसी किताब में गीर्व डे नेवे द्वारा दक्षिण भारत के कपड़ा कारख़ानों में मर्दानगी के प्रदर्शन की चर्चा है। टॉमस मैकल वाल ने बताया है कि पाकिस्तान में एक अच्छे पुरुष का मतलब होता है कि वह घर वालों की रज़ामंदी से ही शादी करेगा तथा यौन संबंध में किसी भी तरह के गर्भनिरोधक उपायों को स्वीकार नहीं करेगा। उसकी मर्दानगी अपने ही मुल्क में शादी करने में और उस मुल्क की आबादी बढ़ाने में निहित है। यहाँ यौन संबंध को सिर्फ़ बच्चे पैदा करने से जोड़ते हुए अपने आनंद के लिए यौन संबंध के प्रयोग को हराम माना गया है। नयनिका मुखर्जी बांग्लादेश में मर्दानगी के बारे में बात करते हुए उन पुरुषों की चर्चा करती हैं जिन्होंने 1971 में बलात्कार की शिकार स्त्रियों से शादी की थी। उनका कहना है कि बांग्लादेश के पुरुष अपनी मर्दानगी को पाकिस्तान के पुरुषों से कमज़ोर मानते हैं। यही कारण है कि पाकिस्तानी सैनिकों के बलात्कार की शिकार बांग्लादेशी स्त्री इंकार और शर्म के बजाय इस बात पर इतराती हैं। इन स्त्रियों का विचार है कि पाकिस्तानी सिपाहियों ने उनकी देह को राष्ट्र की देह का पर्याय समझ कर अपने आक्रमण का शिकार बनाया था। इस प्रक्रिया में उनकी देह राष्ट्र के सम्मान का प्रतीक बन जाती है। स्त्रियों के इस विचार

[14] राधिका चोपड़ा (2003).
[15] संजय श्रीवास्तव (2001) : 1–24.
[16] राधिका चोपड़ा (2003).

में यह भावना भी शामिल है कि पाकिस्तानी फ़ौजियों के उस यौनाक्रमण में हिंसा और पीड़ा के साथ-साथ यौनानंद के पहलू भी थे। बांग्लादेशी पुरुषों को लगता है कि उन स्त्रियों ने उनसे राष्ट्र-निर्माण के लिए योगदान और पीड़ा उनसे ज़्यादा सही है। बॉब सिम्पसन श्रीलंका में युरोपीय गर्भनिरोधक तकनीकों की सफलता/विफलता के बारे में चर्चा करते हुए बताते हैं कि संदर्भ बदलने के साथ एक ही तकनीक का अलग-अलग मतलब हो जाता है। चूँकि पुरुष गर्भ निरोधक अपनाने को श्रीलंकाई पुरुष अपनी मर्दानगी पर समझौते की तरह लेते हैं, इसलिए यहाँ गर्भनिरोध के इन तरीक़ों को स्वीकृति मिलना मुश्किल है। संजय श्रीवास्तव दिल्ली के पिछड़े वर्ग के पुरुषों की लैंगिकता और उसकी आपूर्ति पर रोशनी डालते हैं। यहाँ वे अपनी लैंगिकता की खोज पुरानी दिल्ली की गलियों में करते हुए यहाँ की पीली किताबों और वैद्यों में मर्दानगी की परिभाषा तलाशते हैं। कैरोलिन और फ़िलिपो ओसेल्ला ने अपने शोध में केरल के दो फ़िल्मी नायकों, मम्मूटी और मोहन लाल, के प्रशंसक-समूहों के भीतर मर्दानगी की निर्मितियों की जाँच की है। वे बताते हैं कि मम्मूटी कठोर, उच्चवर्गीय गम्भीर मर्दानगी के प्रतीक हैं, और मोहन लाल लचीलेपन, 'आम-पुरुष' और मस्ती के प्रतीक माने जाते हैं। कारेन गैब्रियल और रवि वासुदेवन ने अपने शोध में फ़िल्मी हीरो के 'ऊँचे वर्ग-जाति' की मर्दानगी का प्रतीक बनने और बनाए जाने को रेखांकित किया है। इस प्रक्रिया में ब्राह्मण मर्दानगी और मुस्लिम मर्दानगी का निर्माण और प्रदर्शन दोनों ही होता है।[17]

इस साहित्य पर नज़र डालने से स्पष्ट हो जाता है कि मर्दानगी एकरूप नहीं है। उसकी निर्मिति में समाज के विभिन्न शक्ति-केंद्रों का योगदान है। चूँकि यह निर्मित है, इसलिए इसे बदला भी जा सकता है।

यहाँ हमने मर्दानगी को अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखा है। स्पष्ट होता है कि दक्षिण एशिया में मर्दानगी को मुख्य रूप से 'शक्ति का स्रोत' माना गया है। यह दो रूपों में देखने को मिलता है : पहला है प्रक्रिया के रूप में जिसका प्रदर्शन रोज़ाना की ज़िंदगी में दिखता है, और दूसरा है उत्पाद के रूप में जो स्थायी एवं स्पष्ट है। कुछ विद्वान मर्दानगी को प्राकृतिक, स्थिर और स्थायी रूप में देखते हैं, तो कई उसे सामाजिक-सांस्कृतिक वाद-विवाद का उत्पाद मानते हैं। 'मर्दानगी एवं हिंसा' का संबंध एक ऐसा क्षेत्र है जिस पर अब तक किये गये अध्ययनों में कम ही ध्यान दिया गया है। जो साहित्य उपलब्ध है भी, उसमें इसके संबंधों की गहराई से विवेचना नहीं की गयी है। इस लेख में मर्दानगी और हिंसा को रैगिंग के प्रदर्शन द्वारा समझने की कोशिश की गयी है।

V

मर्दानगी के कार्य-व्यवहार की तरह रैगिंग

यद्यपि रैगिंग एक काफ़ी पुरानी परिघटना है, लेकिन फिर भी इसकी तरफ़ शोधकर्ताओं ने बहुत कम ही ध्यान दिया है। 1923 में स्ट्रेटफ़र्ड ने रैगिंग को निंदास्पद बदमाशी का नाम दिया था। 2000 में स्टुअर्ट हैनरी ने कहा कि रैगिंग वह क्रिया है जिसमें ज़ोर-ज़बरदस्ती से दूसरे व्यक्ति को क्षति पहुँचाई जाती है। यहाँ ज़ोर-ज़बरदस्ती शारीरिक, मानसिक या भावात्मक हो सकती है। यह क्रिया दृश्य हो सकती है या अदृश्य रूप भी ले सकती है। मारपीट जैसी शारीरिक क्षति दृश्यात्मक होती है, परंतु किसी संस्कृति का मज़ाक उड़ाने जैसी भावात्मक क्षति अदृश्य होती है। शारीरिक क्षति में जल्दी ही शिकायत दर्ज की जा सकती है, परंतु भावात्मक और मानसिक क्षति में शिकायत दर्ज करना मुश्किल होता है।[18]

रैगिंग को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने कुछ इस तरह परिभाषित किया है : 'ऐसा कोई भी मौखिक शब्द या कार्य जो नये विद्यार्थी को क्षति पहुँचाए या क्षति पहुँचाने की क्षमता रखता हो, या

[17] राधिका चोपड़ा, सी. ओसेला और एफ़. ओसेला (2004) (सं.).
[18] हेनरी स्टुअर्ट (2000) : 16-29.

विद्यार्थी के मन में भय उत्पन्न करे, रैगिंग है। किसी भी नये विद्यार्थी से ऐसा कोई कार्य करवाना जो वह ख़ुद से शायद कभी न करे, वह भी रैगिंग में शामिल होगा। ऐसा कोई भी कार्य जो किसी नये विद्यार्थी के मन-मस्तिष्क में शर्मिंदगी पैदा करे और उसके शारीरिक एवं मानसिक विकास में क्षति पहुँचाए, वह भी रैंगिग है।'[19]

केरल के रैगिंग निषेध अधिनियम (2009) के अंतर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि रैगिंग को किसी जान-पहचान की प्रक्रिया का हिस्सा नहीं माना जा सकता। इस अधिनियम में इस बात पर भी ज़ोर दिया गया है कि रैगिंग करने वाले विद्यार्थी मनोरोगी या विकृत मानसिकता के ही हो सकते हैं। 2009 में केरल रैगिंग के मामले में पाँचवें स्थान पर था। इसमें 63 प्रतिशत रैगिंग की घटनाएँ छात्रावास में घटित हुई थीं। इनमें 60 प्रतिशत शारीरिक उत्पीड़न और 20 प्रतिशत यौन-उत्पीड़न से संबंधित थीं। रैगिंग के इन मामलों में से 31 प्रतिशत मामले इंजीनियरिंग संस्थाओं में और 17 प्रतिशत मेडिकल महाविद्यालयों में दर्ज हुए थे।[20]

ज़ाहिर है कि यही समय था जब रैगिंग एक बहुत बड़ी समस्या के रूप में प्रकट हुई और इससे निपटने के लिए अनेक प्रावधान और दिशा-निर्देश जारी किये गये। जब हम रैगिंग को मर्दानगी के कार्य-व्यवहार के अंतर्गत प्रक्रिया और परिणाम के रूप में देखते हैं तो यह कोनेल के वर्चस्वी पौरुष के सिद्धांत के साथ क़रीबी से जुड़ा हुआ दिखाई देती है।

कोनेल की भाँति इस लेख में बल दे कर कहा गया है कि मर्दानगी को लगातार निर्मित किया जा सकता है और यह प्राकृतिक नहीं है। किसी भी समाज में मर्दानगी के कई रूप और रंग देखने को मिलते हैं। लेकिन यह विभिन्नता लोकतांत्रिक नहीं है। इस विभिन्नता में श्रेणियाँ हैं जिनके तहत मर्दानगी की कुछ क़िस्में शक्ति और वर्चस्व का भाग बन जाती हैं और कुछ मर्दानगियाँ हाशिये पर डाल दी जाती हैं। कोनेल ने इस बात पर भी ज़ोर दिया है कि मर्दानगी सूक्ष्म संस्कृतियों में भी बदलती रहती है। ये लेख भी केरल के संदर्भ में इस राज्य की सूक्ष्म संस्कृतियों को समझते हुए मर्दानगी की निर्मिति और प्रवृत्ति पर रोशनी डालती है। इसमें न सिर्फ़ केरल में मर्दानगी के बीच की विभिन्नता पर ध्यान दिया गया है, बल्कि मर्दानगी के बीच की शक्ति-श्रेणी और वर्चस्व को भी दर्शाया गया है। इस प्रक्रिया में समझने को मिलता है कि 'सर्वोचित मर्दानगी' संस्कृति और समय के अनुसार बदलती रहती है। लेकिन स्थायी बात यह है कि समाज में वर्चस्व की मर्दानगी की एक धारणा हमेशा रहती है। इस वर्चस्वी धारणा को समाज के मर्द पुनरुत्पादित करने की कोशिश करते हैं। इसके लिए वे लगातार समाज के दूसरे मर्दों, और स्त्रियों से स्वीकृति की अपेक्षा रखते हैं। इसी पृष्ठभूमि में कॉलेज और छात्रावास का महत्त्व बढ़ जाता है, क्योंकि इसी स्तर पर लड़के एवं लड़कियाँ मर्दानगी, शक्ति और वर्चस्व का निर्माण और प्रदर्शन करते हैं। इस लेख में इन आयामों पर भी रोशनी डालने की कोशिश की गयी है।

बचपन से युवा होने की प्रक्रिया में मर्दानगी की निर्मिति : मर्दानगी की निर्मिति और व्यवहार एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है, लेकिन एक निश्चित उम्र में वह सबसे प्रमुख प्रक्रिया बन जाती है। इस संदर्भ में उम्र का वह दौर जिसमें लड़के-लड़कियाँ स्कूल से कॉलेज का रुख़ करते हैं, विशेष महत्त्व रखता है। यह एक ऐसी अवधि है जिसमें वे अपनी जीवन-यात्रा की विभिन्न अवस्थाओं के अनौपचारिक विधि-विधानों से गुज़रते हैं। इस दौरान वे महज़ सूचनाओं या व्याख्यापरक समझ से ही दो-चार नहीं होते, बल्कि अनुभव से भी रूबरू होते हैं। यह एक ऐसा समय होता है जब वे एक-दूसरे का ख़याल करना, साथ देना, एक दूसरे की पीड़ा, दुख, और गुस्सा बाँटना सीखते हैं। यह अभ्यंतर की यात्रा होती है, जिसमें लड़के-लड़कियाँ अपने-अपने जीवन के अनुभवों को साझा करते

[19] www.ugc.ac.in/notices/minuterag230409.pdf , 23 जुलाई, 2016 को देखा गया.

[20] *वनिता* (2009), 'स्टॉप दिस रैंगिंग', 15-31 मई : 22-24.



रैगिंग को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने कुछ इस तरह परिभाषित किया है : 'ऐसा कोई भी मौखिक शब्द या कार्य जो नये विद्यार्थी को क्षति पहुँचाए या क्षति पहुँचाने की क्षमता रखता हो, या विद्यार्थी के मन में भय उत्पन्न करे, रैगिंग है। किसी भी नये विद्यार्थी से ऐसा कोई कार्य करवाना जो वह ख़ुद से शायद कभी न करे, वह भी रैगिंग में शामिल होगा। ऐसा कोई भी कार्य जो किसी नये विद्यार्थी के मन-मस्तिष्क में शर्मिंदगी पैदा करे और उसके शारीरिक एवं मानसिक विकास में क्षति पहुँचाए, वह भी रैगिंग है।' केरल के रैगिंग निषेध अधिनियम (2009) के अंतर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि रैगिंग को किसी जान-पहचान की प्रक्रिया का हिस्सा नहीं माना जा सकता। इस अधिनियम में इस बात पर भी ज़ोर दिया गया है कि रैगिंग करने वाले विद्यार्थी मनोरोगी या विकृत मानसिकता के ही हो सकते हैं।

हुए एक-दूसरे की ख़ाली जगहों को भरते जाते हैं।

इस दौर में व्यक्ति स्वयं से साक्षात्कार करके दूसरों से तादात्म्य स्थापित करता है। व्यक्तित्वांतरण/संक्रांति का यह कर्मकाण्ड तीन चरणों में सम्पन्न होता है :

(अ) विभक्ति : व्यक्ति की पिछली हैसियत या पहचान से उसका बिछोह। यह अवस्था किशोरावस्था के दौरान तेरह से पंद्रह वर्ष की आयु में आती है। इसके तहत व्यक्ति ख़ुद को बचपन की पहचान से मुक्त करने की कोशिश करता है। **(आ) संक्रमण की अवस्था :** इस अवस्था में व्यक्ति अपने 'भूतकाल' और 'भविष्य' के बीच फँसा रहता है। यह घटना मुख्यत: सोलह और सत्रह वर्ष की आयु में घटती है। यह एक ऐसी स्थिति है जब व्यक्ति न बच्चा होता है, और न ही वयस्क। दोनों चरणों के दौरान स्कूल की पढ़ाई चल रही होती है। लेकिन जीवन का तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण चरण तब शुरू होता है जब व्यक्ति कॉलेज में प्रवेश करता है। **(इ) समावेशन :** इस दौर में व्यक्ति अपनी नयी पहचान को बेहतर ढंग से समझने लगता है। उसे एहसास होने लगता है कि वह वयस्क हो गया है। वह अपनी इस वयस्कता को व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्तर पर हासिल करना चाहता है। कठोर और औपचारिक अनुष्ठानों तथा व्यक्तित्वांतरण से संबंधित विधियाँ अनुपलब्ध होने के कारण इस अवस्था में व्यक्ति के समवयस्क समूह ही उसकी नयी पहचान का निर्माण और पुनर्निर्माण करते

हैं। इस अवस्था में व्यक्ति की जेण्डरगत और सेक्शुअल पहचान ही प्रमुख होती है। किशोरावस्था में उस पर अपने दोस्तों/समवयस्कों का असर ही सबसे ज़्यादा होता है।

इस तरह, कॉलेज और छात्रावास ही दो ऐसी बुनियादी जगहें हैं जहाँ रह कर व्यक्ति अपने पुरुषत्व या स्त्रीत्व का निर्माण और उसका प्रदर्शन करता है। इस प्रक्रिया में रैगिंग एक महत्त्वपूर्ण परिघटना होती है। यहाँ रैगिंग से हमारा मतलब हमेशा किसी बुरी बात से ही नहीं है। एक ख़ास अवधि में रैगिंग ख़ालिस मौज़-मस्ती का पर्याय होती है। इसी तरह रैगिंग का अर्थ हमेशा मर्दानगी या स्त्रीत्व की रूढ़ धारणाओं पर चलना ही नहीं होता, बल्कि इनका प्रतिरोध करना भी होता है। इस दौरान रैगिंग परिचय पाने का एक ऐसा ज़रिया है जिसमें ख़ास तरह के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संदर्भ प्रकट होते हैं।

मैकन ग़ैल और किमेल के अध्ययनों से स्पष्ट होता है, इतरलैंगिकता और मर्दानगी एक ही साथ आकार ग्रहण करती हैं। ऐसी कोई भी चीज़ जो इस युग्म के सहज संबंध को चुनौती देती है, उसे या तो दबा दिया जाता है, या हाशिये पर डाल दिया जाता है। यह तथ्य परवर्ती शोध से भी सिद्ध होता है कि विपरीत संस्कृति के प्रति घटती वितृष्णा के कारण मर्दानगी के विभिन्न रूप किसी एक ही परिवेश में भी प्रतिष्ठित हो सकते हैं। मर्दानगी की निर्मिति और उसे क़ायम रखने वाली व्यवस्था के संदर्भ में कुछ अन्य शोधकर्ताओं ने इतरलैंगिकता के अलावा खिलाड़ी या एथलीट होने, सहभागिता दिखाने, आक्रामकता तथा उपभोक्तावाद जैसे घटकों का भी अध्ययन किया है। ऐसे में, रैगिंग को व्यक्तिगत व्यवहार के परे जा कर और उसे 'इलाज' के चौखटे से बाहर ला कर देखना आवश्यक हो जाता है। यह शोध-कार्य इसी दिशा में आगे बढ़ते हुए यह समझने का प्रयत्न करता है कि रैगिंग की परिघटना किस तरह उपभोक्तावाद, प्रतिशोध, सेक्स तथा प्रतिष्ठा के चार विषयों के अंतर्गत मर्दानगी का प्रदर्शन बन जाती है।[21]

मैंने इस शोध में उत्तर-संरचनावादी नारीवाद का दृष्टिकोण अपनाया है।[22] इससे मर्दानगी को रोज़मर्रा के क्रियाकलापों के अंतर्गत होने वाले परफ़ॉर्मेंस (प्रदर्शन) को समझने और प्रस्तुत करने में मदद मिल सकती है। मर्दानगी के प्रदर्शन में लड़के और लड़कियाँ एक तरह के समान 'उचित' और 'अनुचित' व्यवहार खोजते रहते हैं, और 'उचित मर्दानगी' व्यवहार से जुड़ना चाहते हैं। मर्दानगी संबंधी पहचान वर्चस्व के ढाँचे के साथ बँध जाती है। कई बार लड़के-लड़कियाँ ख़ुद पूर्ण चेतना के साथ इसका भाग नहीं बन पाते, बल्कि उन्हें पता भी नहीं होता कि किसी ख़ास तरह के परफ़ॉर्मेंस द्वारा वे किसी 'मर्दानगी' के स्वरूप का प्रदर्शन कर रहे हैं। इस लेख में यह भी दर्शाया गया है कि ऐसे लड़के और लड़कियाँ भी हैं जो 'आलोचनात्मक चेतना' के साथ 'मर्दानगी' और 'स्त्रीत्व' को देखते और समझते हैं। इसलिए 'आलोचनात्मक चेतना' वाले ये लड़के-लड़कियाँ वर्चस्वी पौरुष को लगातार चुनौती भी देते हैं। अपनी यौनिकता/जेण्डर को चुनने के लिए युवा पीढ़ी पूर्ण रूप से आज़ाद नहीं है। आख़िरकार मर्दानगी/स्त्रीत्व का निर्माण जटिल सामाजिक-राजनीतिक विमर्श का परिणाम है जो कॉलेज और छात्रावास में घटित होता रहता है।

रैगिंग और मर्दानगी के संबंधों को समझने के लिए चार मूल विषयों पर ध्यान दिया जा सकता है : उपभोक्तावादी सोच, बदले की भावना, इतरलैंगिकता की समझ और सम्मान की भावना।

[21] इस संबंध में पर्याप्त समाज-वैज्ञानिक साहित्य उपलब्ध है. देखें, ऑवेन सुलीवान (2010) : 118-128; डॉन मर्टन (2005) : 132-148; मार्टिन मैकन ग़ैल (1994); माइकेल किमेल (1994); ऐरिक एंडरसन (2005); रिटी लुकाच (2005) : 915-935; जोसेफ़ ऑल्टर (2011); मार्क मैक कॉरमैक (2011) : 83-102.

[22] नारीवाद के अनेक प्रकार हैं. इस शोध में जो नारीवादी विचार अपनाया गया है वह स्त्री-पुरुष और उनके दायरे के बाहर के भी सभी मनुष्यों के बीच समानता में यक़ीन रखता है. यह विचार सेक्स-जेण्डर विभेद के आधार पर किसी भी प्रकार के श्रेणी और शोषण का विरोध करता है. उत्तर-संरचनावाद का अर्थ है कि समाज को समझने में सिर्फ़ संरचना को समझना काफ़ी नहीं है. उत्तर-संरचनावादी मानते हैं कि सिर्फ़ संरचना को पढ़ना ठीक नहीं है, संरचना के साथ जिस 'ज्ञान-प्रणाली' ने संरचना को जन्म दिया है, उसका भी अर्थग्रहण करना चाहिए.

उपभोक्तावादी सोच

वनिता पत्रिका[23] ने इस बात पर रोशनी डाली है कि माता–पिता द्वारा बच्चों के स्वार्थी और भौतिकतावादी पालन–पोषण के कारण केरल के समाज में सहिष्णुता और सहयोग कम होता जा रहा है और हिंसादायक रैगिंग जैसे व्यवहार बढ़ते जा रहे हैं।

रिटी लुकोस ने 2005 के अपने अनुसंधान में इस बारे में विचार किया है कि उपभोक्तावाद वर्चस्व बढ़ाने का एक साधन है। लुकोस बताती हैं कि उपभोक्तावादी लड़के को 'चैत्तु' बुलाया जाता है। 'चैत्तु' का समकालीन अर्थ है : जो चमकदार हो, जो ब्राण्डेड कपड़े पहनता हो, जो नवीनतम मोबाइल एवं गाड़ी का प्रयोग करता हो। पारम्परिक तौर पर 'चैत्तु' ताड़ी तापर (ताड़ी उतारने वाले पासी) के चाकू को कहते थे। चाकू की तेज़ धार और चमक को उपभोक्तावाद का निशान माना जाता है। इंजीनियरिंग छात्राओं ने बताया कि रैगिंग मर्दानगी बढ़ाने का साधन है। मर्दानगी तीन उपकरणों से मापी जाती है— ड्रग्ज़, ब्रॉण्डेड कपड़े और शराब। जो लड़के इन तीन से दूर रहते हैं उनकी मर्दानगी पर प्रश्न उठाया जाता है। इन तीनों की प्राप्ति के लिए नये विद्यार्थियों पर दबाव डाला जाता है। मनोज नामक एक प्रतिवादी ने बताया कि हर वर्ष नये विद्यार्थियों को अपने वरिष्ठ विद्यार्थियों को कपड़े दिलाने पड़ते हैं और उन्हें अपने सीनियर्स की पार्टी (मौज़–मस्ती) का ख़र्च भी उठाना पड़ता है। इन सभी प्रक्रियाओं का परिणाम वस्तुकृत मर्दानगी में होता है। इस वस्तुकृत मर्दानगी के समांतर वस्तुकृत स्त्रीत्व भी है। केरल में उपभोक्तावादी लड़की को 'चरक' बुलाया जाता है। 'चरक' का मतलब 'माल' है। छात्रावासों में रहने वाली छात्राओं ने बताया कि 'नाडन' (पारम्परिक) लड़कियों को लड़के पसंद नहीं करते, परंतु जब शादी की बात चलती है तो आज भी 'नाडन' अर्थात् पारम्परिक लड़कियों की माँग ज़्यादा है। लड़के 'माल' का मतलब परिष्कृत लड़की से जोड़ते हैं। परिष्कृत का अर्थ बहुत सीमित है। ये शरीर को 'माल' बनाने की प्रक्रिया है जहाँ ब्यूटी पार्लर जाना ही परिष्कृत होने की निशानी है।[24]

इस अनुसंधान द्वारा यह भी पता चला कि कई लड़कियों ने छात्रावास आने के बाद ही ब्यूटी पार्लर जाना शुरू किया। पहले नयी छात्राओं को ब्यूटी पार्लर जाने में रोक लगाई जाती थी ताकि उन्हें जबरन 'अपरिष्कृत' दिखाया जा सके। साक्षात्कार के दौरान एक नयी छात्रा ने बताया कि 'लड़कों की ज़िंदगी में हर शैक्षणिक सत्र में नयी बहार आती है। उन्हें नयी छात्राएँ देखने को मिलती हैं। यह एक चुनौती है। सीनियर छात्राओं की पूरी कोशिश होती है कि कोई भी नयी छात्रा लड़कों का ध्यान आकर्षित न करे और न ही कोई परिष्कृत दिखे।' नयी छात्राओं को बालों में ज़्यादा तेल लगाने, अटपटे रंगों का कपड़ा पहनने, चप्पल पहनने एवं ब्यूटी पार्लर न जाने का निर्देश मिलता है। यहाँ तक कि सीनियर छात्राओं के ब्यूटी पार्लर का ख़र्च भी नयी छात्राओं को उठाना पड़ता है। संक्षेप में वस्तुकृत स्त्रीत्व का सक्रिय निर्माण रैगिंग में दिखता है। ऐसा भी नहीं है कि वस्तुकृत स्त्रीत्व से सबको शिकायत हो। जैसे बिंदु, एक प्रतिवादी ने कहा, 'मैं जानती हूँ कि मैं माल हूँ। मुझे अच्छा लगता है कि लड़के मुझे देखते हैं। मेरी ख़ूबसूरती का अर्थ ही इन प्रशंसकों से मिलता है।' यानी वस्तुकृत होने के लिए लड़के और लड़कियाँ समान रूप से उत्सुक हैं। उपभोक्तावाद की ताबेदारी में नयी वस्तु ही उनकी पहचान है और वे ख़ुद भी वस्तु बन जाते हैं। रैगिंग शक्ति का वह स्वरूप है जिसमें व्यक्ति वस्तु बन जाता है, और भोगी एवं भोग का अंतर मिट जाता है। *मातृभूमि* अख़बार द्वारा किये गये सर्वेक्षण में ये बात उभर कर आयी कि अब केरल के कॉलेज परिसर में प्रसिद्धि का कारण राजनीतिक विचारधारा नहीं रह गयी है, बल्कि नवीनतम एवं ब्राण्डेड वस्तुओं (मोबाइल, वस्त्र, गाड़ी) के प्रयोग से ही प्रसिद्धि निर्धारित होती है।

---

[23] *वनिता* (2009), 'स्टॉप दिस रैगिंग', 15–31 मई : 22–24.

[24] रिटी लुकोस (2005) : 915–935.

हाल ही में केरल में रैगिंग की ऐसी घटनाएँ सामने आयी जिसमें नयी छात्राओं से एटीएम कार्ड और मोबाइल फ़ोनों की माँग की गयी। न देने पर उन्हें शारीरिक एवं मानसिक उत्पीड़नों का सामना करना पड़ा। इस संदर्भ में 2010 के वर्गीज़ और अरुणराज मामले स्पष्ट रूप से सामने आते हैं। इस घटना में गी वर्गीज़ और अरुणराज के शरीर पर ब्लेड और स्क्रू-ड्राइवर से घाव किये गये थे। इतना ही नहीं उन्हें ट्रेन से धक्का देकर फेंक दिया गया था। जिस डॉक्टर ने इनकी चिकित्सा की थी, उसने बताया कि रैगिंग के नाम पर इस स्तर की हिंसा उसने पहले कभी नहीं देखी है। इस घटना में शामिल वरिष्ठ छात्राएँ आज भी क़ानून के गिरफ़्त से बाहर हैं। दूसरी घटना में जीबिन का हाथ तोड़ दिया गया, क्योंकि उसने सीनियर छात्रों की शराब पार्टी का ख़र्च उठाने से मना कर दिया था। लम्बे अरसे तक इलाज चलने के कारण जीबिन को परीक्षा नहीं देने दी गयी, परंतु जो सीनियर छात्र जो इस रैगिंग से जुड़े थे उन पर किसी तरह की रोक नहीं लगी। इन दोनों घटनाओं से एक ही बात स्पष्ट होती है कि रैगिंग के अपराधी को एक प्रकार की सुरक्षा प्राप्त होती है और रैगिंग पीड़ित को व्यक्तिगत और संस्थानिक दोनों ही स्तरों पर मानहानि का सामना करना पड़ता है। ऐसी घटनाएँ लड़कियों के छात्रावास में भी होती हैं परंतु आपसी डर पैदा करने के कारण बहुत कम ही शिकायत के रूप में बाहर आ पाती हैं।

उपभोक्तावादी रैगिंग न सिर्फ़ व्यक्तिगत स्तर पर लागू होती है, बल्कि संस्थानिक स्तर पर भी प्रचलित है। रैगिंग के अपराधी को संस्थानिक सहयोग मिलने के कई कारण हैं : पहला, रैगिंग की घटना की स्वीकृति से शैक्षणिक संस्था की बदनामी होती है। प्रबंधन को लगता है कि रैगिंग को नकारने में ही उनका हित है। दूसरा, आजकल कई वरिष्ठ विद्यार्थी दाख़िला-दलाल बन जाते हैं और कई छात्राओं को शैक्षणिक संस्था में प्रवेश दिलवाते हैं। हर प्रवेश के लिए 10,000 से 30,000 तक रुपये वसूले जाते हैं। ऐसे वरिष्ठ छात्र जब रैगिंग के मामले में फँसते हैं तो प्रबंधन उनके ख़िलाफ़ कोई क़दम नहीं उठाता। रैगिंग पीड़ित को आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ता है क्योंकि अगर वह छात्र कॉलेज बीच में ही छोड़ना चाहे तो भी उसको पूरा शुल्क भरना पड़ता है। तीसरा, ज़्यादातर रैगिंग के अपराधी ऊँची जाति से जुड़े होते हैं। संस्थानिक प्रबंधक भी इसी श्रेणी से आते हैं। आपसी साँठगाँठ में रैगिंग पीड़ित के अधिकार एवं आवाज़ को दबा दिया जाता है।

बदले की भावना

बदला शब्द कई बार फ़ील्डवर्क के दौरान सुनने को मिला। रैगिंग एक दुष्चक्र है क्योंकि ज़्यादातर रैगिंग-पीड़ित ही आगे चलकर रैगिंग के अपराधी बनते हैं। वे पहले वर्ष में रैगिंग का सामना इस आशा में करते हैं कि अगले दो वर्ष हमारी बारी है। बदले का चक्र रैगिंग को कभी ख़त्म नहीं होने देता। उदाहरण के लिए छात्र शरत का मामला रैगिंग के संदर्भ में बदले की भावना से संबंधित सिद्धांत की भूमिका को दर्शाता है।[25] शरत एक प्रसिद्ध आयुर्वेदिक वैद्य के परिवार का छात्र था। बारहवीं की परीक्षा उसने काफ़ी अच्छे अंकों से पास की थी। उसके परिवार के लोग चाहते थे कि वहे एक आयुर्वेदिक डॉक्टर बने और इसीलिए आर्युवेद कॉलेज में उसका दाख़िला करवाया। आरम्भिक दिनों में उसने ख़ुद परिवार से वहाँ चल रही अत्यधिक रैगिंग के बारे में बताया था। लेकिन इसके बावजूद उसके परिवार ने उसका बीएएमएस कोर्स जारी रखा, क्योंकि सरकार ने बिना बीएएमएस की डिग्री के आयुर्वेद का लाइसेंस देना बंद कर दिया था। रैगिंग के दौरान उसे ज़बरदस्ती शराब और ड्रग्ज़ लेने के लिए मजबूर किया जाता था। लेकिन तीसरे वर्ष तक आते-आते शरत न केवल ख़ुद शराब और ड्रग्ज़ का आदी हो गया, बल्कि रैगिंग के एक केस का आरोपी भी बन गया। इसकी वजह से उसके परिवार

---

[25] *मातृभूमि* (2012), 8 अगस्त : 4.

के लोग उसे वापस घर बुलाने के लिए मजबूर हो गये। अब वह दवाई की एक दुकान पर काम करता है, लेकिन अभी भी वहे शराब की लत से बाहर नहीं आ पाया है।

जिस प्रकार मर्दानगी की परिभाषा उपभोक्तावाद से जुड़ी है, उसी प्रकार मर्दानगी बदला लेने की भावना से भी जुड़ी हुई है। यदि बाद में इसका बदला न लिया और अपने जूनियरों की रैगिंग नहीं की तो इसका तात्पर्य ये निकाला जाएगा कि वह नामर्द है। ऐसे मर्दानगी की परिभाषा लड़कों तक ही सीमित नहीं है। मर्दानगी का तात्पर्य यहाँ ऐसी शक्ति के प्रयोग से है जो दूसरों को नुक़सान या क्षति पहुँचाए। वैसी शक्ति से नहीं, जो दूसरों को सशक्त या दूसरों का उत्थान करे।

विपरीत लैंगिकता की समझ

भारतीय समाज में, ख़ासकर केरल के समाज में यौन संबंधी बातों को गुप्त रखा जाता है। इतरलैंगिक ऐंद्रिकता को प्रतिमान बनाया जाता है। इस प्रतिमान को कोई चुनौती नहीं दे सकता। यौन संबंधी विषयों पर खुल कर चर्चा करना प्रतिबंधित होता है। इसी कारण युवा पीढ़ी कुण्ठित हो जाती है। बढ़ते यौन–उत्पीड़न एवं यौन हिंसा पर आधारित रैगिंग से इसी उत्कण्ठा का पता लगता है। वरिष्ठता की आड़ में छात्र अपनी यौन कल्पनाओं को साकार करते हैं। जिस समलैंगिकता को समाज में दबाया जाता है वह रैगिंग के रूप में खुल कर खेली जाती है। यहाँ भी लड़के और लड़कियों में अंतर नहीं दिखता है। यौन–उत्पीड़न के अलग–अलग रूप हैं, जैसे कि गुप्तांग पर हमला, समलैंगिक आसन, समलैंगिक हस्तमैथुन और सम्भोग, अश्लील साहित्य पर ज़ोर आदि। रैगिंग द्वारा वरिष्ठ विद्यार्थी अपनी यौन भावनाओं की खोज और पूर्ति करता है।

सम्मान की भावना

रैगिंग में सामाजिक श्रेणी और उससे जुड़े सम्मान का प्रतिनिधित्व होता है। इसमें लड़का–लड़की दोनों ही समान रूप से भागीदार होते हैं। श्रेणी कई आधारों पर काम करती है : जाति, वर्ग, आयु, स्थान आदि। विनय कृपाल, नलिनी स्वामीदासन, अमिताभ गुप्ता और राज के. गुप्ता के अध्ययन से पता चलता है कि किस प्रकार रैगिंग प्रक्रिया में अनुसूचित जाति और जनजाति के छात्रों को अपमानित और हतोत्साहित किया जाता है। इसके द्वारा उन्हें समझाया जाता है कि शैक्षणिक संस्था में उनके लिए जगह नहीं है।[26]

कृष्णा चैतन्य ने भी अपने काम में यही दर्शाया है कि रैगिंग के अपराधी ज़्यादातर ऊँचे वर्ग एवं ऊँची जाति के होते हैं और उनका संरक्षण संस्था पूर्ण रूप से करती है।[27] इसी प्रकार संजय पल्शीकर और अरुण कुमार पटनायक ने भी अपने शोध में बताया है कि दलित छात्र की एक हिंसक छवि बनाई जाती है। कॉलेज परिसर में विधि और व्यवस्था पर प्रश्न करने पर दलित छात्र को हिंसक ठहराया जाता है। रैगिंग इस रूप में सिर्फ़ पहले साल तक सीमित नहीं रहती, बल्कि पूरे शैक्षणिक जीवन में मौजूद रहती है। इसलिए रैगिंग को सिर्फ़ व्यक्ति के स्तर पर नहीं समझा जा सकता, बल्कि इसे संस्थात्मक एवं सामाजिक स्तर पर समझने की ज़रूरत है। हाल ही में रोहित वेमुला की आत्महत्या इसी हिंसा को दर्शाती है।[28]

पिछड़े वर्ग–जाति के छात्रों की उपस्थिति से कॉलेज परिसर एवं शैक्षणिक संस्था का मूल स्वरूप बदल गया है। यह बदलाव ज़्यादातर ऊँचे वर्ग और ऊँची जाति को स्वीकृत नहीं है। इस बदलाव से कॉलेज, विश्वविद्यालय में प्रवेश प्रक्रिया, शिक्षकगण, पाठ्यक्रम आदि मानदंडों को चुनौती मिल रही है। 'योग्यता के राज्य' या मैरिटोक्रेसी कहलाने वाली व्यवस्था को अस्थिर होना पड़ रहा है। अब

---

[26] विनय कृपाल, नलिनी स्वामीदासन, अमिताभ गुप्ता और राज के. गुप्ता (1985) : 1238–1248.
[27] कृष्णा चैतन्य (1992) : 2525.
[28] संजय पल्शीकर और अरुण कुमार पटनायक (2002) : 1490–1491.

विश्वविद्यालयों में 'गुणवत्ता' की परिभाषा बदल रही है। इसीलिए अनुदारता/असहिष्णुता भी बढ़ रही है। रैगिंग अब इस असहिष्णुता का हथियार बन चुका है।

फ़ील्डवर्क के दौरान कई जगहों पर यह बात भिन्न-भिन्न रूपों में सामने आयी। अनुसूचित जाति-जनजाति के छात्रों ने अपनी टूटी-फूटी अंग्रेज़ी भाषा से लेकर कपड़ों के रंग-रूप तक फ़ब्तियाँ (टिप्पणियाँ) सही हैं। उनका कहना है कि कॉलेज में दोस्ती भी जाति-वर्ग की श्रेणी पर आधारित है। एक तरह के इस अनकहे भेदभाव ने छात्रों को अपना आत्मविश्वास खोने के लिए मजबूर कर दिया है। इस प्रकार से यहाँ रैंगिंग 'वर्चस्वी पौरुष' को बनाए रखने के एक शस्त्र के रूप में दिखती है।

'वर्चस्वी पौरुष' की धारणा युवा पीढ़ी (लड़के-लड़कियों) के हर क़दम को प्रभावित करती है। क्या 'उचित' और क्या 'अनुचित' व्यवहार है— यह 'वर्चस्वी पौरुष' द्वारा ही बताया जाता है। इसी कारण जो युवा (लड़के-लड़कियाँ) वर्चस्वी पौरुष को चुनौती देते हैं या उसके विकल्प का प्रदर्शन करते हैं उनकी आवाज़ को हमें और बुलंद करना चाहिए। जो इस मर्दानगी के विकल्प का समर्थन करते हैं उन्हें यह बताना ज़रूरी है कि वे ग़लत नहीं हैं और उनका भी अपना अस्तित्व है। कॉलेज और छात्रावास एक राजनीतिक स्थान है जहाँ शक्ति को प्राप्त और प्रयोग करने के विभिन्न प्रक्रियाओं को 'वर्चस्वी पौरुष' प्रभावित करती है। शक्ति के ढाँचे को लोकतांत्रिक और समानता का रूप देने के लिए वर्तमान 'वर्चस्वी पौरुष' की पुन: निर्मिति की आवश्यकता है।

VI

रैगिंग की गहरी जड़ें

स्टुअर्ट हेनरी ने रैगिंग के विभिन्न स्तरों के बारे में चर्चा की है। वे रैगिंग को पाँच स्तरों में देखते हैं : छात्र-छात्र के स्तर पर, शिक्षक / प्रबंधन के स्तर पर, स्थानीय राजनीतिक निर्णयों के अंतर्गत, राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति के अंतर्गत और हानिकारक सामाजिक प्रक्रिया और प्रथाओं के अंतर्गत। चूँकि हेनरी ने रैगिंग को व्यक्ति-संस्था-समाज के स्तर पर देखा है, इसलिए वे सुधार को भी तीनों स्तर पर जोड़ कर देखते हैं। वह तीनों ही स्तर पर 'शांति संदेश' (अहिंसा) को प्रधानता / मान्यता देने की बात करते हैं।[29]

हॉवेल और हाकिंस ने तीन स्तर पर बदलाव प्रस्तावित किया है। व्यक्ति के स्तर पर उन्होंने परिवार में सहिष्णुता, अहिंसा और प्यार को बढ़ावा देने पर ज़ोर दिया है। संस्था के स्तर पर उन्होंने प्रबंधक को गुस्से पर काबू करने तथा सहानुभूति बढ़ाने पर ध्यान केंद्रित किया है, और सामाजिक स्तर पर युवा पीढ़ी को अपराध और अधिकार के आयामों पर ध्यान (अभिज्ञता) देने का प्रस्ताव रखा है।[30]

भारत में आज तक रैगिंग को व्यक्ति और संस्था के स्तर तक ही समझने की कोशिश की गयी है। इसीलिए सारे सुरक्षात्मक उपाय कमज़ोर साबित हुए हैं। उच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश आर. बसंत ने *मातृभूमि* पत्रिका[31] के साथ एक साक्षात्कार में बताया कि वे छह साल के कड़े निरीक्षण से रैगिंग को मिटाना चाहते हैं। जब तक रैगिंग के शिकार छात्र ख़त्म नहीं होते, तब तक रैगिंग करने वाले अपराधी भी ख़त्म नहीं हो सकते। इस क़दम पर वे पुलिस को ज़्यादा अधिकार देने की बात करते हैं। अभी विश्वविद्यालय / कॉलेज परिसर में पुलिस को घुसने के लिए प्रधानाचार्य की अनुमति अनिवार्य है। न्यायाधीश आर. बसंत इस प्रावधान को ख़त्म कर पुलिस को बेरोक-टोक कॉलेज परिसर में घुसने का अधिकार देने की बात करते हैं। हालाँकि यहाँ उनकी बातों से पूरी तरह से सहमत नहीं हुआ जा सकता है, क्योंकि इससे 'पुलिस हिंसा' को बढ़ावा मिल सकता है। इतना ही नहीं, पुलिस भी समाज

[29] हेनरी स्टुअर्ट (2000), वही.
[30] *मातृभूमि* (2012), 7 अगस्त : 4.
[31] *मातृभूमि* (2012), 9 अगस्त : 4.

के 'ऊँचे वर्ग' और 'ऊँची जाति' की पक्षपाती हो सकती है।

फ़ील्ड-वर्क के दौरान एक और महत्त्वपूर्ण बात उभर कर सामने आयी कि किसी भी छात्र ने रैगिंग पर पूर्ण विराम लगाने की बात नहीं की। बल्कि उन्होंने छोटे-मोटे तौर पर रैगिंग की तरफ़दारी ही की। यह हमारे समाज में हिंसा की एक प्रकार से स्वीकृति को दर्शाता है। वस्तुतः रैगिंग किसी भी स्तर पर और किसी भी रूप में अस्वीकृत होनी चाहिए। किसी व्यक्ति को किस बात / कार्य से क्षति का अनुभव हो, यह बहुत ही व्यक्तिपरक मसला है। रैगिंग पर रोक इसी उद्देश्य से लगनी चाहिए। आख़िरकार रैगिंग से मिलने वाली खुशी अन्यों की क्षति में निहित है।

रैगिंग से जुड़े सुरक्षात्मक उपायों में दो प्रमुख कमियाँ हैं। पहला, भारत में अभी तक रैगिंग को सामाजिक स्तर से जोड़ कर देखने की कोशिश नहीं की गयी है। एंटी-रैगिंग दल को छात्रों के बीच कभी स्वीकृति नहीं मिली है। छात्र संस्था को भी समाज के शासक वर्ग-जाति से जुड़ा हुआ मानते हैं। एंटी-रैगिंग दल भी उसी 'शासक मर्दानगी' के अंग हैं जो हिंसा, मान और मैरिटोक्रैसी पर टिके राज्य का प्रतिनिधित्व करती है। यह शासक मर्दानगी पुरुषत्व के ज़रिये प्राप्त सत्ता की नयी संरचना ज़रूर है, पर इसे अभी वह स्वीकारोक्ति नसीब नहीं हुई है जो पहले से स्थापित वर्चस्वी पुरुषत्व को प्राप्त है। इस समय यह शासक मर्दानगी संक्रमण की स्थिति में है। जैसे ही इसे भी बृहत्तर सामाजिक और सांस्कृतिक स्वीकारोक्ति मिल जाएगी, वैसे ही यह वर्चस्वी पुरुषत्व का नया रूप प्राप्त कर लेगी। दूसरा, रैगिंग से जुड़े उपचार पर ज़्यादा ध्यान दिया गया है— इसके प्रतिकार या इसे रोकने पर नहीं दिया गया है। दण्ड केंद्रित सुझाव हों, या आरोप-दर्ज कराने वाले हों— सभी इसी बात पर ज़ोर देते हैं कि रैगिंग होने के बाद क्या करना चाहिए। रैगिंग हो ही नहीं, इस पर कम ध्यान दिया जाता है।

असल में रैगिंग तब तक ख़त्म नहीं हो सकती जब तक आम जनता की मानसिकता नहीं बदली जाती। समाज बदलने से ही और 'शासक मर्दानगी' के घटक बदलने से ही रैगिंग व्यक्ति-संस्था-सामाजिक स्तर पर ख़त्म हो सकती है। इस बदलाव में परिवार की केंद्रीय भूमिका तीन स्तरों पर हो सकती है— पहला, आलोचनात्मक चिंतन को बढ़ावा देना। बच्चों को सवाल करने के लिए प्रोत्साहन देना न कि सवाल न करने पर ज़ोर डालना। परम्परागत प्रथाओं पर सवाल करने की क्षमता युवा पीढ़ी में आने से ही सामाजिक श्रेणियाँ कमज़ोर होंगी और समानता का साक्षात्कार होगा। दूसरा, परिवार में खुली परिचर्चा की व्यवस्था होनी चाहिए। बच्चों द्वारा अपने डर-संकोच को भुला कर परिवार के समक्ष अपने सपने, आशाएँ और आकांक्षाएँ रखने से ही वे सही मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते हैं। परिवार में डर पैदा करने से बच्चे बाहरी व्यक्ति और साधनों पर निर्भर हो जाते हैं जिससे उनकी ग़लत समझ में इज़ाफ़ा होता है। तीसरा, परिवार में विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक अनुभवों के प्रति सम्मान सिखाने और दिखाने की आवश्यकता है। तभी बच्चे घर से बाहर भी विभिन्नता की प्रशंसा कर पाते हैं।

इन तरीक़ों से व्यक्ति 'शासक मर्दानगी' के नकारात्मक आयामों (हिंसा, मान, मैरिटोक्रैसी) से सकारात्मक आयाम (अहिंसा, सम्मान, समानता) तक पहुँच पाएगा और एक स्वतंत्र, सम्मानपूर्ण और आपसी बंधुता पर आधारित समाज का निर्माण कर सकेगा। 'शासक मर्दानगी' को 'शासित मर्दानगी' रोज़ चुनौती दे रही है। पिछड़ी जाति और वर्ग की तरफ़ से अपने शोषण को लेकर सवाल उठाया जा रहा है। इससे 'शासक मर्दानगी' अस्थिर हो रही है।

संदर्भ

आर. कोलियर (1998), *मैस्कुलिनिटीज़, क्राइम ऐंड क्रिमिनलॉजी : मेन, हेटरोसेक्शुअलिटी ऐंड द क्रिमिनलाइज़्ड अदर,* सेज, लंदन.

आर.डब्ल्यू. कोनेल (1995), *मैस्कुलिनिटीज़,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

आर.डब्ल्यू. कोनेल और जे.डब्ल्यू. मेर्सश्मिड्ट (2005), 'हेजेमोनिक मैस्कुलिनिटी : रिथिंकिंग द कंसेप्ट', *जेण्डर ऐंड सोसाइटी,* खण्ड 19, अंक 6.

आर. लुकास (2005), 'कंज़्यूमिंग ग्लोबलाइज़ेशन : यूथ ऐंड जेण्डर इन केरल, इण्डिया', *जर्नल ऑफ़ सोशल हिस्ट्री,* खण्ड 38, अंक 4.

आशिस नंदी (1983), *द इंटीमेट एनिमी : लॉस ऐंड रिकवरी ऑफ़ सेल्फ़ अंडर कॉलोनियलिज़्म,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ऑवेन सुलीवान (2010), 'मैनटैस्टिक—मैन्ज़ राइट्स ऑफ़ पैसेज़', *द फ़रो,* अंक 66, अंक 2.

एडली ऐंड विदरेल (1996), 'मैस्कुलिनिटीज़, पॉवर ऐंड आइडेंटिटी', मार्टिन मैकन ग़ैल (सं.), *अण्डरस्टेण्डिंग मैस्कुलिनिटीज़ : सोशल रिलेशंस ऐंड कल्चरल एरीनाज़,* ओपेन युनिवर्सिटी प्रेस, फ़िलाडेल्फ़िया.

----------- (1999), 'निगोशिएटिंग हेजेमोनिक मैस्कुलिनिटी : इमेजनरी पोज़ीशंस ऐंड साइको-डिसकर्सिव प्रैक्टिसिज़', *फ़ेमिनिज़्म साइकोलॉजी,* खण्ड 9, अंक 3.

एस. व्हाइटहेड (2002), *मेन ऐंड मैस्कुलिनिटीज़,* पॉलिटी प्रेस, यूएसए.

एस. व्हाइटहेड और एफ़. बैरेट (2001) (सं.), द *मैस्कुलिनिटीज़ रीडर,* पॉलिटी प्रेस, यूएसए.

एच. स्ट्रैफ़र्ड (1923), 'रैगिंग इन बॉयज़ स्कूल', *ब्रिटिश मैडिकल जर्नल,* खण्ड 1, अंक 3241.

ऐरिक एंडरसन (2005), *इन द गेम : गे एथलीट्स ऐंड द कल्ट ऑफ़ मैस्कुलिनिटी,* स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ़ न्युयॉर्क प्रेस, न्युयॉर्क.

ऐलन पेटरसन (1998), *अनमास्किंग द मैस्कुलिन : 'मेन' ऐंड 'आइडेंटिटी' इन अ स्केप्टिकल एज,* सेज, लंदन.

कृष्णा चैतन्य (1992),'राँची वुमॅन फ़ाइट रैगिंग', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 27, अंक 47.

क्रिस्टॉफ़ जेफ़्रलो (1996), *द हिंदू नैशनलिस्ट मूवमेंट ऐंड इण्डियन पॉलिटिक्स,* पेंगुइन बुक्स, नयी दिल्ली.

जे. मैक इनेस (1998), *द एंड ऑफ़ मैस्कुलिनिटी : द कन्फ़्यूज़न ऑफ़ जेनेसिस ऐंड सेक्शुअल डिफ़रेंस इन मॉडर्न सोसाइटी,* ओपेन युनिवर्सिटी प्रेस, बकिंघम, यूके.

जोसेफ़ ऑल्टर (2011), *मॉरल मैटिरिएलिज़्म: सेक्स ऐंड मैस्कुलिनिटी इन मॉडर्न इण्डिया,* पेंगुइन बुक्स इण्डिया, नयी दिल्ली.

जॉन टोश (2004), 'हेजेमोनिक मैस्कुलिनिटी ऐंड द हिस्ट्री ऑफ़ जेण्डर', स्टीफ़न डुडनिक, कैरेन हेजमान और जॉन टोश (सं.), *मैस्कुलिनिटीज़ इन पॉलिटिक्स ऐंड वार : जेण्डरिंग मॉडर्न हिस्ट्री,* मैनचेस्टर युनिवर्सिटी प्रेस, मैनचेस्टर.

टॉम बॅटमोर (1983), *अ डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट,* ब्लैकवेल पब्लिशर्स, ऑक्सफ़र्ड.

डी. कोलिंसन और जे. हर्न (1994), 'नेमिंग मेन एज़ मेन : इम्प्लीकेशंस फ़ॉर वर्क, ऑर्गनाइज़ेशन ऐंड मैनेजमेंट', *जेण्डर, वर्क ऐंड ऑर्गनाइज़ेशन,* खण्ड 1, अंक 1.

डी.जे. दिमित्रियु (2001), 'कोनेल्ज़ कंसेप्ट ऑफ़ हेजेमोनिक मैस्कुलिनिटी : अ क्रिटीक', *थियरी ऐंड प्रैक्टिस,* खण्ड 30, अंक 3.

डेविड मोर्गन (1992), *डिस्कवरिंग मेन,* रौटलेज, न्युयॉर्क.

डॉन मर्टन (2005), 'ट्रांज़िशन ऐंड ट्रबल: राइट्स ऑफ़ पैसेज़ फ़ॉर सबअर्बन गर्ल्ज़', *एंथ्रोपोलॅजी ऐंड एजुकेशन क्वार्टर्ली,* खण्ड 36, अंक 2.

तनिका सरकार (2001), *हिंदू वाइफ़, हिंदू नेशन : कम्युनिटी, रिलीजन ऐंड कल्चरल नैशनलिज़्म,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

मधु किश्वर (1998), *रिलीजन एट द सर्विस ऑफ़ नैशनलिज़्म ऐंड अदर एसेज़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवसिर्टी प्रेस, नयी दिल्ली.

मृणालिनी सिन्हा (1995), कॉलोनियल मैस्कुलिनिटी : द मेनली इंग्लिशमेन ऐंड एफ़िमिनेट बंगाली इन द लेट नाइंटीथ सेंचुरी, मैंचेस्टर युनिवर्सिटी प्रेस, मैंचेस्टर.

माइकेल किमेल (1994), 'मैस्कुलैनिटी एज़ होमोफ़ोबिया', *थियराइज़िंग मैस्कुलिनिटीज़,* एच. ब्रॉड और एम. कॉफ़मैन

(सं.), सेज, लंदन.

मार्क मैक कॉरमैक (2011), 'हायरैर्की विदाउट हेजे़मनी : लोकेटिंग बॉयज़ इन ऐन इनक्लूज़िव स्कूल सैटिंग', *सोशियोलॉजिकल पर्सपेक्टिव्ज़,* खण्ड 54, अंक 1.

मार्टिन मैकन ग़ैल (सं.), *अण्डरस्टेण्डिंग मैस्कुलिनिटीज़ : सोशल रिलेशंस ऐंड कल्चरल एरीनाज़,* ओपेन युनिवर्सिटी प्रेस, फ़िलाडेल्फ़िया.

मार्टिन मैकन ग़ैल (1994), *द मेकिंग ऑफ़ मैन,* ओपेन युनिवर्सिटी प्रेस, बकिंघम, यूके.

राधिका चोपड़ा, सी. दासगुप्त, एम. जनेजा (2000), 'अण्डरस्टेण्डिंग मैस्कुलिनिटी', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 35, अंक 19.

राधिका चोपड़ा (2003), 'फ्रॉम वायलेंस टू सपोर्टिव प्रैक्टिस', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 38, अंक 17.

राधिका चोपड़ा, सी. ओसेला और एफ़. ओसेला (सं.)(2004), *साउथ एशियन मैस्कुलिनिटीज़ : कांस्टेक्स्ट ऑफ़ चेंज, साइट्स ऑफ़ कंटीन्युटी,* काली फ़ार वुमॅन ऐंड वुमॅन अनलिमिटेड, नयी दिल्ली.

रिटी लुकोस (2005), 'कंज़्यूमिंग ग्लोबॅलाइज़ेशनः यूथ ऐंड जेण्डर इन केरल, इण्डिया', *जर्नल ऑफ़ सोशल हिस्ट्री,* अंक 38, संख्या 4, जून.

विनय कृपाल, नलिनी स्वामीदासन, अमिताभ गुप्ता और राज के. गुप्ता (1985), 'शेड्यूल्ड कास्ट ऐंड ट्राइब्ज़ अण्डर हाइर एजुकेशन : अ स्टडी ऑफ़ एन आईआईटी', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 20, अंक 29.

स्टीफ़न डुडनिक, कैरेन हेजमान और जॉन टोश (सं.), *मैस्कुलिनिटीज़ इन पॉलिटिक्स ऐंड वार : जेण्डरिंग मॉडर्न हिस्ट्री,* मैनचेस्टर युनिवर्सिटी प्रेस, मैनचेस्टर.

संजय श्रीवास्तव (2001), 'इंट्रोडक्शन : द सेक्स क्वेश्चन इन साउथ एशिया', *साउथ एशिया,* खण्ड xxiv.

संजय पल्शीकर और अरुण कुमार पटनायक (2002), 'वायलेंस इन अ युनिवर्सिटी : डिफ़ेंडिंग द इनडिफ़ेंसिबिल', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 37, अंक 16.

हेनरी स्टुअर्ट (2000), 'व्हाट इज़ स्कूल वायलेंस? ऐन इंटीग्रेटिड डेफ़िनिशंस', *एनल्ज़ ऑफ़ अमेरिकन एकैडेमी ऑफ़ पॉलिटिकल ऐंड सोशल साइंस,* खण्ड 567.

ज्ञानेंद्र पाण्डेय (1993), 'विच ऑफ़ अस आर हिंदूज़?', ज्ञानेंद्र पाण्डेय (सं.), *हिंदूज़ ऐंड अदर्स : द क्वेश्चन ऑफ़ आइडेंटिटीज़ इन इण्डिया टुडे,* पेंगुइन बुक्स, नयी दिल्ली.